

## जैन साहित्य में वर्णित वर्ण व्यवस्था का स्वरूप विशेषकर 7वीं शताब्दी से 10वीं शताब्दी के बीच

\*डॉ. अंशुल शर्मा

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक उत्तर से दक्षिण तक निरन्तर प्रवाहमान है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज का वर्णों में विभाजन किया गया था। इसका प्रधान आधार रंग भेद अथवा प्रजातीय धारणा ही था। अपने भेद-परक प्रभाव और महत्त्व को एक-दूसरे वर्ण पर सिद्ध करने के लिए इस व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णों के कायिक और वाचिक परस्पर मतभेद और संघर्ष भी होते हैं तथा प्रतिस्पर्धा स्वरूप एक-दूसरे वर्ण के विरुद्ध निराधार तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे। किन्तु इन भेद-भाव की प्रणालियों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था की जड़े कहीं भी निर्बल नहीं पड़ी। बल्कि परस्पर विचारों, निर्दिष्ट कार्यों और अधिकारों के संघर्ष से इस व्यवस्था की जड़े और गहरी होती गई, जो आज भी हिन्दू समाज में विद्यमान है। जैन धर्म वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को नकारते हुये इसका खण्डन करता है, ऊँच-नीच जाति आदि को नहीं मानता। जैन धर्म चारों वर्णों के लोगो को जैन संघ में सम्मिलित करता है और शूद्रकों भी धर्म सेवा का अधिकार देता है। जैसे की जैन साहित्य में मिलता है कि “ यदि उपकरण, आचार और शरीर की शुद्धि होने पर जैन के समान हो सकता है, क्योंकि काल अवधि आदि के मिलने पर जाति से हीन आत्माएँ भी धर्म का अधिकारी होती हैं”।

9वीं, दसवीं शताब्दी तक यह दृढ़ और नियोजित हो गयी। समकालीन जैन साहित्य में इसका उल्लेख आता है। तत्कालीन समाज छोटे-छोटे वर्गों में बँटा हुआ था। आदर्श रूप में उन दिनों भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक मान्यताएँ प्रचलित थी। वर्णाश्रम व्यवस्था की वैदिक मान्यताओं का प्रभाव सामाजिक जीवन के रंग-रंग में इस प्रकार प्रवाहित था कि इस व्यवस्था का घोर विरोध करने वाले जैन धर्म के अनुयायी भी इनके प्रभाव से अछूते न रह सके। दक्षिण भारत में यह प्रभाव सर्वाधिक पड़ा। इसका प्रभाव वहाँ उत्पन्न होने वाले जैनाचार्यों के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। 9 वीं शताब्दी के जैनाचार्य आचार्य जिनसेन ने उन सभी वैदिक नियमोपनियमों को जैनीकरण कर उन पर जैन धर्म की छाप लगा दी थी, जिन्हें वैदिक प्रभाव से प्रभावित होने के उपरान्त भी जैन समाज मानने लगा था<sup>2</sup>। वस्तुतः जैनाचार्य ने वैदिक साहित्य तथा सामाजिक वातावरण के प्रभाव के कारण अनेक वैदिक मान्यताओं एवं विचारों का जैनीकरण करने का प्रयत्न किया। मूल में जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था तथा उसके आधार पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता था। सैद्धान्तिक ग्रन्थों में सामाजिक-व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताओं का वर्णन नहीं है। कालान्तर में सामाजिक

वातावरण में वर्ण व्यवस्था का जोर पकड़ा, जिसका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है। वस्तुतः समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जो अराजगता उत्पन्न हुई थी और जिसके फलस्वरूप सामाजिक सन्तुलन आघात-प्रतिघात का विषय बन रहा था। उनके कारण जैन आचार्यों को भी विभिन्न वर्णों के निर्धारित आजीविका में आबद्ध एवं सीमित होने के लिए विवश होना पड़ा। भिन्न-भिन्न वर्णों को अपने-अपने वर्णानुसार निर्धारित आजीविका के अतिरिक्त अन्य आजीविका को ग्रहण करने का निषेध था।

विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति एवं कर्तव्य समकालीन जैन साहित्य के अध्ययन से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों की सामाजिक स्थिति एवं उनके कर्तव्यों पर प्रकाश पड़ता है। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव जैनाचार्यों पर भी पड़ा। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों का अवलोकन कर अपने ग्रंथों को प्रणयन किया। उक्त वर्णों के विषय में विस्तृत विवरण निम्नलिखित हैं –

ब्राह्मण समकालीन ग्रन्थों ने सामान्यता ब्राह्मणों के लिए “द्विज और ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु प्रसंगतः इनमें विप्र, भूदेव, श्रोतिष्ठ, पुरोहित, देवभोगी, भौहूर्तिक, उपाध्याय त्रिवेदी आदि शब्दों से सम्बोधित किया है<sup>3</sup>। वर्णित ब्राह्मणों के अतिरिक्त जैन आचार्यों ने ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है, जो वैदिक परम्परा के अनुयायी थे और जिनके कर्तव्य आदि का वर्णन जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में ब्राह्मणार्थ निर्धारित उन चौदह विधाओं का उल्लेख मिलता है, जिसका वर्णन पारम्परिक धर्मशास्त्र तथा पुराण में उपलब्ध है। ये चौदह विधाएँ इस प्रकार हैं (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष एवं कल्प) चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण तथा धर्मशास्त्र<sup>4</sup>। किन्तु कालान्तर में ब्राह्मणों ने विभिन्न व्यवसायों को अपना प्रारम्भ किया। यहाँ तक की वह कृषि द्वारा अपना जीविकोपार्जन करने लगे थे। डॉ. ब्रजनाथ सिंह यादव के अनुसार “ ब्राह्मण स्वयं कृषि कार्य नहीं करते थे, अपितु कृषि कार्य शूद्रों के माध्यम से करवाते थे। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण का कृषक कार्य से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, अपितु कृषि वृत्ति के साथ सम्बन्ध अवश्य हो जाता है<sup>5</sup>। किन्तु पूर्व मध्यकालीन के साहित्य में वर्णन आता है कि विकल्पतः ब्राह्मण कृषि कार्य कर सकता है।

क्षत्रिय-समकालीन जैन साहित्य में क्षत्रिय वर्ण के लिए प्रायः ‘क्षेत्र और क्षेत्रिय शब्द का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं पर अयोनिज शब्द का भी उल्लेख आता है जो कि क्षेत्रिय का प्रायः

है। पूर्व मध्यकालीन जैन साहित्य में क्षत्रिय जाति के लिए जो कर्तव्य विहित किये गये हैं, उनमें दो तत्वों का सामन्वय दृष्टिगत होता है। प्रथमतः उनमें वही क्षेत्रिययोचित कर्तव्य वर्णित है, जिनका उल्लेख प्राचीन क्षत्रियों के सन्दर्भ में अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध है। द्वितीय इन क्षत्रियों के कर्तव्य गौरव में शौर्य और पराक्रम का बार-बार उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे राजपूतों को 'सिर्वा' कहते हैं। वस्तुतः समाज में क्षेत्रिय पोषण और रक्षक का कार्य करते थे। पूर्व मध्यकालीन विदेशी लेखकों और भारतीय शास्त्रकारों ने भी क्षेत्रियों के शौर्य, शासन, कौशल, युद्धक व प्रवृत्ति आदि की चर्चा की है। नवीं सदी के लेखक इब्नुखदबि ने लिखा है कि "क्षत्रियों के सम्मुख सब लोग सिर झुकाते हैं, लेकिन ये किसी को सिर नहीं झुकाते"।<sup>6</sup> मध्यकालीन शास्त्र लक्ष्मीधर ने 'क्षत्रिय' शब्द का क्षतात् त्राणम् से निःसृत माना है। क्षातात् त्राणम् का अर्थ था, तीनों वर्णों का हानि और भय से त्राण करना। वस्तुतः समाज में क्षेत्रिय का कर्म निश्चित ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। प्रजा कर रक्षा करना वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना आदि उसका प्रधान कर्म था। रणकौशल उसके लिए अनिवार्य था। समकालीन जैन साहित्य में इनके अन्य कर्तव्यों का उल्लेख किया है जैसे पाँच कुल पालन, आत्म रक्षा, प्रजा रक्षा तथा समज्जसत्त्व धर्म वर्णित किये हैं। अन्य कर्तव्यों में न्यायोचित वृत्ति, धर्मानुसार धनोपार्जन, वृद्धि को प्राप्त करना तथा योग्य पात्र को दान का विधान था।<sup>7</sup>

वस्तुतः गुप्तों के पतन के उपरान्त यदि एक और राजनीतिक विप्लव के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे तो दूसरी और समाज में भ्रमक प्रवृत्तियाँ पनप रही थी। समकालीन जैन साहित्य में सार्वभौमसत्ता के स्थान पर सामन्तवादी विचारधाराएँ अधिक प्रबल हो रही थी और राजस्थान एवं गुजरात जैसे क्षेत्रों में सामन्तों ने न केवल राजनीतिक दृष्टि से, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी अपना गौरव स्थापित किया था<sup>8</sup>। यह सम्भावित भी है कि इस स्थिति में क्षेत्रिय जाति की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार किया गया, जिन्होंने समाज में अपना एक अलग स्थान बना रखा था।

**वैश्व-** समकालीन जैन साहित्य में वैश्य, सेठ वणिक्, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तत्कालीन भारत में वैश्यों ने वाणिज्य और व्यापार के विकास में विशेष योगदान

दिया था और वे इतने समृद्धिवान थे कि कुछेक तो सामन्त व्यवस्था में सम्मिलित हो गये थे। उन्होंने व्यापार के अतिरिक्त कृषि पशुपालन भी किया। अलबेरूनी के पूर्व नवीं सदी के अन्त में होने वाला अरबी लेखक इब्नुखुर्दाज्बा वैश्यों के केवल कारीगर होने और घर गृहस्थी के काम करने का निर्देश करता है<sup>9</sup>। कालान्तर जैन साहित्यों में वैश्यों और शुद्रों का वर्णन का रूपान्तर करें तो वह वैश्यों को व्यापार आदि में संलग्न होने पर अधिक जोर देते हैं, क्योंकि कृषि और पशुपालन व्यवसाय में हिंसा होती है, जो कि जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है।

**शूद्र-** शूद्र का व्यवहार क्रम चौथा स्थान था। उसे दास अनार्थ, कृष्ण वर्ग आदि से सम्बोधित किया गया था। जैन साहित्य के अनुसार जो नीच कर्म करते थे तथा शास्त्रों से दूर भागते थे, उन्हें शूद्र कहा गया है। पूर्व मध्यकाल में भी शूद्रों का प्रधान कर्म अपने से उच्च वर्णों की सेवा करना ही था। मध्य युग में लिखे गये भाष्यों और टीकाओं से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से चली आ रही शूद्रों की व्यवस्था में उत्तर प्राचीनकाल में आकर कुछ सुधार अवश्य हुआ<sup>10</sup>। डॉ. आर.एम. शर्मा का शूद्रों की स्थिति पर यह विचार है कि कालान्तर में (9 वीं दसवीं शताब्दी) शूद्रों ने कृषि, पशुपालन, शिल्प एवं व्यापार द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ कर वैश्यों के समीप आने लगे थे, जो खेत ब्राह्मण को उपलब्ध थे, उन पर वे शूद्रों द्वारा खेती करवाते थे<sup>12</sup>। वस्तुतः समकालीन स्थिति में शूद्रों की स्थिति सुधारने की चेष्टा की गयी थी। जैन एवं बौद्ध धर्मों के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप शूद्रों को हेय दृष्टि से देखा जाना कम हो गया था। कुछ तान्त्रिक आचार्य स्वयं शूद्र थे<sup>13</sup>। वस्तुतः समकालीन जैन साहित्य में कई उल्लेख मिलते हैं कि वर्ण व्यवस्था का ह्रास हो रहा था, जिसके निर्देशन साक्ष्य अभिलेखों एवं ग्रन्थों में उपलब्ध है। सातवीं-आठवीं शदी के वर्मन राजा वर्णाश्रम को सुधारने का प्रयास कर रहे थे<sup>14</sup>। आठवीं सदी के एक गुर्जर प्रतिहार अभिलेख में इस प्रकार का उल्लेख आया है कि कलियुग के प्रभाव के कारण वर्णाश्रम-धर्म निर्धारित व्यवस्था से च्युक्त हो रहा था<sup>15</sup>। नवीं सदी के सामाजिक स्वरूप का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने ऐसा अभिव्यञ्जित किया है कि वर्ण और आश्रम धर्मों में व्यवस्था का सर्वथा अभाव हो गया था<sup>16</sup>।

#### सन्दर्भ

1. पं. कैलाश चन्द्र जी शास्त्री - जैन धर्म पृ.295, प्रकाशन भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी मथुरा 1985
2. गोकुल चन्द्र जैन - जैन यशास्तिक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर 1967, पृ. 59
3. गोकुल चन्द्र जैन, वही, पृ. 60
4. जगदीश चन्द्र जैन, वही, पृ. 227
5. डॉ. ब्रजनाथ सिंह यादव - वही, पृ. 10
6. जयशंकर मिश्र - ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 112
7. महापुराण 42/4
8. यादव, वही, पृ.34
9. यादव, वही, पृ. 38
10. अलबेरूनी - ग्यारहवीं सदी का भारत, 1968, पृ. 107
11. वही, पृ. 119
12. आर.एस. शर्मा, वही पृ. 282
13. दशरथ शर्मा - राजस्थान श्रु दी ऐजेज पृ. 435
14. आर. बसाक - हिस्ट्री ऑफ नार्थ इस्टर्न इण्डिया 1934, पृ. 315
15. एपीग्राफिका इण्डिका भाग 23, 1935-36, पृ. 150
16. बाह्य सूत्र - शंकरभाष्यम् निर्णय सागर प्रेस बम्बई, पृ. 273